इकाई 1 सामाजिक स्तरीकरण: अभिप्राय और नजरिया

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- समाजों और सामाजिक स्तरीकरण की विकासात्मक प्रक्रियाओं की रूपरेखा बता सकेंगे;
- सामाजिक स्तरीकरण के संयोजी सिद्धांतों, स्थिति, संपदा और सत्ताधिकार का विवेचन कर सकेंगे;
- भारत में जाति और वर्ग के रूप में विद्यमान सामाजिक स्तरीकरण के बारे में बता सकेंगे;
- सामाजिक स्तरीकरण से जुड़ी अवधारणाओं और सिद्धांतों के स्पष्ट कर सकेंगे; और
- सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन पर रोशनी डाल सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके जरिए समाज के समूहों और सामाजिक श्रेणियों को एक दूसरे से ऊंचे या निम्न दर्जे में रखा जाता है। यह प्रतिष्ठा, विशेषाधिकारों, संपदा और सत्ताधिकार की कसौटी पर उनकी सापेक्षिक स्थिति को देखकर तय किया जाता है। सामाजिक-स्तरों में पाए जाने

वाले प्रदत्त या नैसर्गिक गुणों और उनके द्वारा अर्जित किये जाने वाले गुणों को हम अलग-अलग श्रेणी में रख सकते हैं। इस प्रकार प्रदत्त और उपलब्धि, ये दो प्रकार के पैमाने ही प्रायः सभी समाजों में विद्यमान सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारकों के रूप में काम करने वाले मानकीय सिद्धांतों को परिभाषित करते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया भी है। एक सामाजिक संस्था के रूप में इसका उदय सामाजिक क्रमविकास और सामाजिक विकास के एक निश्चित स्तर पर हुआ। आखेटक और भोजन संग्राहक समाज में भी सामाजिक विभेदन के अपने-अपने स्तर थे। उदाहरण के लिए कुशल शिकारी या शामन को निजी गुणों या प्रवीणताओं के कारण ऊंचा दर्जा हासिल था क्योंकि समाज उन्हें रहस्यमय या दैवीय मानता था। इसी प्रकार समाज के सदस्यों की उम्र या उनके लिंग के रूप में भी यह विभेदन रहता था। मगर उत्पादन प्रौद्योगिकी के अल्पविकसित रहने और इन समाजों की अनिश्चित और खानाबदोश प्रकृति के कारण इनकी जनसंख्या पर अंकुश लगा रहा। इसलिए इनका सामाजिक ढांचा बहुत सरल था। इसमें लोगों के बीच संप्रेषण के लिए प्रारंभिक प्रवीणता (यानी सीमित भाषायी शब्द ज्ञान), सरल प्रौद्योगिकी, आरंभिक स्वरूप में विश्वास व्यवस्थाएं और सामाजिक नियंत्रण के नियम विद्यमान थे। ऐसे समाजों ने जरूरत से ज्यादा आर्थिक उत्पादन नहीं किया और इनमें किसी भी सदस्य के लिए संपदा का संचय कर पाना संभव नहीं था। इस तरह के सरल समाजों में सामाजिक विभेदन जरूर था मगर उनमें सामाजिक स्तरीकरण एक संस्था के रूप में विद्यमान नहीं था।

1.2 सामाजिक विकास-क्रम की प्रक्रिया

एक संस्था के रूप में सामाजिक स्तरीकरण का विकास तब हुआ जब उत्पादन की प्रौद्योगिकियों में बुनियादी बदलाव आया। पशु-पालन और कृषि में आए नवप्रवर्तनों के फलस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक जटिल प्रौद्योगिकियों और सामुदायिक जीवन में स्थायित्व समाज के लिए अनिवार्य बन गए। इन अर्थव्यवस्थाओं ने आर्थिक आधिक्य (अधिक उत्पादन) उत्पन्न करना और पशु या अनाज के रूप में संपदा का संचय करना आरंभ कर दिया। खाद्य संसाधनों के सुनिश्चित हो जाने से जनसंख्या में भारी वृद्धि होने लगी। इसके साथ-साथ उत्पादित सामग्रियों, वस्तुओं का लेन-देन और विनिमय भी बड़े पैमाने पर आरंभ हुआ। कालांतर में लेन-देन की युक्तियों का आविष्कार हुआ जो वस्तुओं के मूल्य को समाज के उन वर्गों के विकास में प्रतिबिंबित कर सकती थीं जिनका संपदा और सत्ता पर नियंत्रण अधिक था। अपेक्षाकृत जटिल प्रौद्योगिकियों के विकास और श्रम विभाजन के फलस्वरूप कालांतर में न सिर्फ विशेषज्ञता प्राप्त समूहों का समाज में उदय हुआ बल्कि शहर और देहात में विभाजन भी उत्पन्न हुआ। सामाजिक संरचना में आई जटिलता के चलते नई उभरती सामाजिक वास्तविकताओं पर सामाजिक नियंत्रण की अधिक विस्तृत संस्थाएं जरूरी हो गईं, जैसे धर्म का संस्थागत स्वरूप, कार्य के विभिन्न स्वरूपों में विशेषज्ञता प्राप्त कर्मियों के स्तर, संस्कृति के विशेषज्ञ, शासक वर्ग इत्यादि। सामाजिक स्तरीकरण संस्था ऐसे ऐतिहासिक क्षण में एक क्रमिकविकास संबंधी कार्यात्मक आवश्यकता के परिणाम-स्वरूप अस्तित्व में आई।

1.3 संयोजी सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण के तीन मुख्य संयोजी सिद्धांत हैं। ये हैं स्थिति, संपदा और सत्ताधिकार। अब तक कई समाजों का जो समाजशास्त्रीय अध्ययन हुआ है उससे पता चलता है कि क्रमिकविकास प्रक्रिया में इन सिद्धांतों के बीच कुछ संबंध है। उदाहरण के लिए, ऐसे समाजों में जिनमें सामाजिक स्तरीकरण की संस्था नहीं थी, जैसे भोजन का संग्रह करने वाले और शिकारी समुदाय, उनमें भी कुछ व्यक्तियों को उच्च सामाजिक स्थान प्राप्त था और उन्हें नायक समझा जाता था। इन समुदायों में ओझा (शामन), आखेट में या सामाजिक, आर्थिक और सुरक्षा के कार्यक्षेत्र में अद्वितीय योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को ऊंचा दर्जा दिया जाता था। लेकिन इसके बावजूद इनमें सामाजिक स्तरीकरण की संस्था का आविर्भाव नहीं हो पाया क्योंकि इस प्रकार की व्यक्तिगत विशिष्टता के उद्भव ने सामाजिक विभेदन को जन्म दिया। यह सामाजिक विभेदन योग्यता, सामाजिक-लिंग या समाज में प्रचलित अन्य चिन्हकों पर आधारित

था। समाज में सामाजिक स्तरीकरण तभी अस्तित्व में आता है जब सामाजिक श्रेणी का निर्धारण लोगों के समूह के आधार पर किया जाता है, जैसा कि हमारे समाज में सामाजिक श्रेणियां जाति और वर्ग के आधार पर किया जाता है।

1.3.1 सामाजिक स्थिति

यह सामाजिक स्तरीकरण का सबसे पहला सिद्धांत है। सामाजिक स्तरीकरण की भाषा में सामाजिक स्थिति का अर्थ समाज में लोगों के समूहों का वर्गीकरण समाज में उनकी प्रतिष्ठा या आदर के रूप में उनकी सापेक्षिक स्थिति के आधार पर करना है। प्रतिष्ठा एक गुणात्मक विशेषता है, जो किसी स्थिति-समूह के सदस्यों को जन्म से ही मिलती है। इस तरह का कोई भी गुण जो जन्म से विरासत में मिलता हो, वह प्रदत्त गुण कहलाता है जिसे हम अपने प्रयास से अर्जित नहीं कर सकते। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक-स्थिति सिद्धांत को प्रदत्त का सिद्धांत भी कहते हैं। हमारे देश में जाति सामाजिक-स्थिति समूहों का एक अति उपयुक्त उदाहरण है। जो गुण एक सामाजिक-स्थिति समूह की रचना करते हैं उनका संबंध हमारे प्रयासों द्वारा अर्जित हो सकने वाले आर्थिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक सिद्धांतों की अपेक्षा उन मूल्यों और विश्वासों, किवदंतियों और मिथकों से अधिक होता है, जिन्हें समाज में एक अवधि में चिरस्थायी बनाया जाता है।

1.3.2 संपदा

सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा संयोजी सिद्धांत संपदा है। समाज में संपदा तभी उत्पन्न होती है जब प्रौद्योगिकी में उन्नति हो और उत्पादन की रीति में बदलाव आ जाए। जैसे आखेट और भोजन संग्रहण अर्थव्यवस्था से व्यवस्थित कृषि में बदलाव, कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था से मुख्यत: निर्माण और उद्योग पर आधारित अर्थव्यवस्था में परिवर्तन। इस प्रकार के परिवर्तनों ने न सिर्फ सामाजिक स्तरीकरण को जन्म दिया बल्कि कालांतर में इन्होंने सामाजिक स्तरीकरण के संयोजी सिद्धांतों को भी बदल डाला। आर्थिक प्रगति से समाज में अधिक संपदा उपजी, संपदा के चिन्हकों का संचय हुआ, जिसके कई रूप थे, जैसे अनाज, पशुधन, धातुएं और खनिज-पदार्थ (चांदी, सोना, बहुमूल्य मणियां इत्यादि) या मुद्रा। इस चरण में आकर जिन समूहों का नियंत्रण आर्थिक संसाधनों और संपदा पर अपेक्षतया अधिक था या जो अधिक संपदा के स्वामी थे उन्हें समाज में उन समूहों से उच्च श्रेणी में रखा जाता था जिनका इन पर नियंत्रण कम था या लगभग नहीं था, जैसे, भूमिहीन श्रमिक या औद्योगिक मजदूर। इसका मुख्य उदाहरण वर्ग पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण है।

1.3.3 सत्ताधिकार

सामाजिक स्तरीकरण का तीसरा संयोजी सिद्धांत सत्ताधिकार है। सामाजिक-स्थिति और संपदा को हम समाज में श्रेणी-निर्धारण के आधार समूह विशेषताओं से स्पष्ट रूप से जोड़ सकते हैं। लेकिन इन दोनों संयोजी सिद्धांतों के विपरीत सत्ताधिकार का सिद्धांत अपेक्षतया एक विसारित या बिखरा हुआ गुण है। इसकी वजह यह है कि इसकी प्रकृति अनूठी नहीं है। समाज में उच्च स्थिति वाला समूह या फिर ऐसा समूह जिसके पास संपदा अधिक हो उसके लिए समाज में सत्ताधिकार का प्रयोग करना हमेशा संभव रहता है। फिर भी हम इसे विशेषाधिकारों के सिद्धांत से अलग करके देख सकते हैं क्योंकि विशेषाधिकार का सिद्धांत सामाजिक समूह की इस सामर्थ्य पर आधारित है कि वह किस तरह अन्य समूहों को उन कार्यों, मूल्यों और विश्वासों को मानने के लिए बाध्य करता है, जिन्हें तय भी वही करता है। सामाजिक स्तरीकरण की अपनी व्याख्या में जैसा कि मैक्स वेबर कहते हैं सत्ताधिकार की अवधारणा इस तथ्य पर आधारित है कि यह उन व्यक्तियों या समूहों को जायज बल प्रयोग करके अपनी इच्छा अन्य समूहों पर थोपने की शक्ति प्रदान करता है। इस अर्थ में राज्य हमारे सामने एक ऐसी संस्था का उत्तम उदाहरण है, जो सर्वाधिक शक्ति या सत्ताधिकार रखता है। राज्य को समाज के नागरिकों पर अपनी इच्छा थोपने का परम अधिकार रहता है। शक्ति या सत्ताधिकार प्रयोग की वैधता को समूह व्यापक स्तर पर स्वीकार

कर लेते हैं, या यूं कहें कि जब यह समाज में संस्थागत बन जाता है तो शक्ति प्रभुत्व में तब्दील हो जाती है। प्रभुत्व को हम वैध शक्ति के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। यह शक्ति या सत्ताधिकार का सिद्धांत सामाजिक स्तरीकरण की धारणा में भी प्रवेश कर लेता है जब इसके कार्य या सामाजिक फलितार्थों को समाज में चल रही राजनीतिक प्रक्रियाएं प्रभावित करने लगती हैं या फिर राज्य सामाजिक स्तरीकरण को प्रभावित करने में अधिक सक्रिय या प्रत्यक्ष भूमिका अपना लेता है। इसका एक प्रासंगिक उदाहरण हमें सकारात्मक भेदभाव या आरक्षण नीति में मिलता है। इस नीति के तहत भारतीय राज्य ने अनुसूचित जातियों, जनजातियों और पिछड़ी जातियों को सरकारी नौकरियों, राजनीतिक पदों और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण दिया है। सामाजिक स्तरीकरण में एक तत्व के रूप में सत्ताधिकार की व्याख्या में मैक्स वेबर ने पार्टियों और सत्ताधिकार तक अपनी पहुंच को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने में राजनीति, राजनीतिक दलों और उनकी भूमिका को सही आंका है।

अभ्यास 1

अपने अध्ययन केन्द्र में अन्य सहपाठियों के साथ सामाजिक स्थिति, संपदा और सत्ताधिकार पर चर्चा कीजिए। ये तीनों किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़े हैं? अपनी चर्चा के परिणामों को अपनी नोटबुक में दर्ज कीजिए।

1.4 भारत में जाति और वर्ग

अभी तक हमने सामाजिक स्थिति, संपदा और सत्ताधिकार के संयोजी सिद्धांतों की चर्चा की है ये समाज में समूहों के सापेक्षिक क्रम में श्रेणीकरण के मुख्य निर्धारक हैं जो सामाजिक स्तरीकरण की नींव रखते हैं। इसी प्रकार जाति और वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत हैं जो समाज में समूहों के श्रेणी निर्धारण में सामाजिक स्थिति और संपदा की भूमिका को दर्शाते हैं। सामाजिक स्थिति समूह का एक प्रमुख उदाहरण जाति है। दूसरी ओर वर्ग इस सिद्धांत पर आधारित है जिसमें समूहों को संपदा तक उनकी पहुंच या समाज के संपदा संसाधनों पर अपना नियंत्रण रखने की सापेक्षिक क्षमता पर उनको श्रेणियों में रखा जाता है। सामाजशास्त्रियों में उन प्रक्रियाओं को लेकर काफी सहमति है जिनसे सामाजिक-स्थिति समूहों की रचना होती है और ये समूह सामाजिक स्तरीकरण में श्रेणी-क्रम बनाते हैं। मगर समाजशास्त्रियों में इस प्रकार की सहमति उन प्रक्रियाओं को लेकर नहीं है, जो वर्गों को संपदा के स्वामित्व की विभेदक क्षमता से उनके उदय में सहायक होती हैं।

निस्संदेह संपदा के सिद्धांत के बारे में माना जाता है कि इससे समाज का स्तरीकरण होता है। मगर वर्ग के बारे में मतभेद हैं। उदाहरण के लिए मार्क्स वेबर मानते हैं कि वर्ग 'बाजार की स्थिति' की उपज है जबकि कार्ल मार्क्स इसे 'उत्पादन की विधियों' से जोड़ते हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार 'उत्पादन की विधियां' ही संपदा तक पहुंच या उस पर नियंत्रण रखने की क्षमता और समाज में समूहों की श्रेणी दोनों को तय करती हैं। बेशक दोनों ही सिद्धांतों में सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारण में संपदा की केन्द्रीय भूमिका अंतर्निहित है। जैसा कि मार्क्स कहते हैं, उत्पादन विधि पूंजी के बदलते स्वरूप के साथ बदलती रहती हैं (पूंजी का अर्थ वस्तुओं के उत्पादन में निवेश की जाने वाली संपदा है)। इसी प्रकार बाजार की स्थिति वस्तुओं की आपूर्ति और मांग, श्रम और रोजगार की स्थितियों से निर्धारित होती है। ये सभी कारक समाज में उपलब्ध पूंजी या संपदा संसाधनों के सांचे के भीतर ही काम करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण इस प्रक्रिया में तब आ जुड़ता है जब समाज में एक वर्ग के अधिकार में अन्य लोगों की तुलना में अधिक संपत्ति या पूंजी हो जाती है। या फिर सामाजिक स्तरीकरण की भूमिका तब शुरू होती है जब बाजार को लोगों के ऐसे समूहों से भी व्यवहार करना पड़ता है जिनके पास अपनी कोई पूंजी या संपत्ति नहीं होती और जो जीवित रहने के लिए सिर्फ अपनी शारीरिक शक्ति या श्रम पर ही निर्भर रहते हैं। मार्क्स ने इन वर्गों को सर्वहारा या मजदूर कहा है। इन मुद्दों पर समाजशास्त्रियों में बहस सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धांतों से जुड़ी है। इन सिद्धांतों पर हम आगे चर्चा करेंगे।

1.5 जाति और सामाजिक स्तरीकरण

प्राचीन भारतीय समाज की संरचना मुख्यतः जाति स्तरीकरण पर आधारित थी। यह स्तरीकरण कुछ इस प्रकार था कि जीवन के सभी पहलुओं जैसे अर्थव्यवस्था, राज्य व्यवस्था और संस्कृति में जाति मुख्य सिद्धांत के रूप में काम करती थी। इसे समझने के लिए पहले हमें वर्ण और जाति में भेद जानना होगा। वर्ण वर्गीकरण के लिए एक संदर्भ आधार या मॉडल है और जाति सामाजिक स्थिति के क्रम में श्रेणीबद्ध विशिष्ट जाति समूहों का संबोधन है। भारतीय समाज चार वर्णों में बंटा था। ये थे: ब्राह्मण (पुरोहित), क्षत्रिय (योद्धा), वैश्य (व्यापारी) और शूद्र (श्रमिक वर्ग)। कालांतर में पांचवा वर्ण पंचमा भी बना, जिसमें वे लोग शामिल थे जिन्हें समाज ने अपने बुनियादी नियमों के उल्लंघन के चलते बहिष्कृत कर दिया था। पंचमा को समाज ने अछूत घोषित कर दिया। यह समाज में किसी भी समूह पर थोपा गया सबसे उग्र किस्म का भेदभाव था। वर्ण व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार थी: जन्मजात सदस्यता, आनुवंशिक या पुश्तैनी पेशा, वर्ग क्रम परंपरा में विभिन्न जातियों को प्रदत्त अपवित्रता और पवित्रता, अंतर्विवाह और परस्पर घृणा या अलगाव।

1.5.1 जाति का जनसंख्यात्मक विश्लेषण

भारत में वर्ण या जाति की जनसांख्यिकी हजारों वर्षों से बेहद विविध रही है। अध्ययनों से पता चलता है कि 20 मील से लेकर 200 मील की परिधि में एक जाति को सामाजिक समूह के रूप में नहीं माना जाता है, बल्कि इसे वर्ण मॉडल के संदर्भ में ही मान्यता दी जाती है। इसीलिए वर्ण व्यवस्था समाजशास्त्रीय संदर्भ के आधार के रूप में महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार जातियां भी क्षेत्रीय या उपक्षेत्रीय समूहों के रूप में हजारों की संख्या में हमेशा मौजूद रही हैं। भारतीय नृवैज्ञानिक सर्वेक्षण (एंथ्रोपॉलिजिकल सर्वे ऑफ इंडिया) के एक नवीनतम अध्ययन से पता चला है कि भारत में 4, 635 समुदाय या जाति जैसे समूह विद्यमान हैं। इस सर्वेक्षण से यह भी पता चलता है कि लगभग सभी धार्मिक समूह अलग-अलग समुदायों में बंटे हैं, जिनमें जाति–विशेषताएं हैं। जातियां स्थानीय और क्षेत्रीय सांस्कृतिक चिन्हक भी धारण किए रहती हैं, जो पारिस्थितिक, स्थानीय इतिहास या पौराणिक कथाओं पर आधारित होते हैं। पारंपरिक रूप से गांव और शहर दोनों जगह जातियां लेन-देन के व्यवस्थागत संबंध या कार्य और आर्थिक विनिमय या सेवाओं के विनिमय में बंधी रहती थीं। इस अर्थ में वर्ण व्यवस्था पारस्परिक सहयोग और परस्पर निर्भरता के आधार पर काम करती थी। इसने एक जैविक-तंत्र का निर्माण किया था। गांव और शहर दोनों जगह जातियों की अपनी पंचायतें थीं। हालांकि गांव और शहर में इनके अपने केन्द्र थे, ऐसी पंचायतों या (शहरी) संघों के पास शहर या गांव से बाहर भी संगठनों का एक नेटवर्क था, यदि किसी कारणवश अंतरजातीय संघर्ष उठ खड़ा होता था जिससे जाति के लेन-देन के नियमों का उल्लंघन हो रहा हो और अगर ऐसा विवाद ग्रामसभा या नगरसभा (जिसमें विभिन्न जातियों के बुजुर्ग और प्रतिष्ठित व्यक्ति सदस्य होते थे) में नहीं सुलझ पा रहा हो तो ऐसी स्थिति में मामले को जाति–पंचायतों में उठाया जाता था। इस तरह यह जाति के अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा करने वाली संस्था के रूप में काम करने के साथ-साथ संघर्षों या झगड़ों के निपटारा करने वाली प्रणाली के रूप में भी काम करती थी।

बोध प्रश्न 1

1) जाति और सामाजिक स्तरीकरण पर एक नोट लिखिए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) नीचे दी गई सूची में कौन-सी अवधारणा शेष से मेल नहीं खाती:

i) हैसियत

ii) संपत्ति

iii) सामंती

v) नगरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में वर्ण के स्थायित्व का आधार अर्थव्यवस्था थी जो लंबे समय तक कृषि-व्यापार ही रही। इसके साथ-साथ अधिक मृत्यु दर के कारण जनसंख्या भी स्थिर थी जो कई सदी तक एक करोड़ के आस-पास ही बनी रही। स्थिर जनसंख्या का यह दौर औद्योगिक क्रांति के बाद टूटा जिसके चलते महामारियों और प्राकृतिक आपदाओं से होने वाली भारी मृत्यु दर को नियंत्रित करने के लिए उन्नत जीवन-रक्षक साधन और उपचार सुलभ हो पाए थे। इसके फलस्वरूप जैसा कि जनगणना के आंकड़े बताते हैं वर्ष 1931 से भारत की जनसंख्या बढ़ती गई। ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति ने भारत को एक पराश्रित अर्थ-व्यवस्था बनाया और उसकी परंपरागत विनिर्माण अर्थ-व्यवस्था और व्यापार को नींव से नष्ट कर दिया।

इसके फलस्वरूप जहां एक और विनगरीकरण और वि-औद्योगीकरण हुआ वहीं दूसरी ओर गांवों में भूमि पर दबाव भी बढ़ गया। इसका परिणाम यह रहा कि जो आर्थिक और सामाजिक संरचना का पारंपरिक संतुलन ग्रामीण और नगर केन्द्रों तथा कृषि और निर्माण और व्यापार के बीच विद्यमान था वह टूट गया। सिर्फ यही नहीं, अंग्रेजों की नीति अपनी सामाजिक और राजनीतिक नीतियों के कार्यान्वयन में जाति और धर्म को ही संदर्भ का आधार बना कर चलने की थी। अंग्रेज शासकों ने जब जातीय आधार पर जनगणना की तो इसने देश के जन साधारण को पहली बार राजनीतिक हकीकत के रूप में जाति के प्रति जागरूक बनाया। इसके फलस्वरूप जो जातियां जाति-क्रम में निम्न श्रेणी में थीं उनकी ओर से अपने को उच्च जातियों की श्रेणी में रखने की मांग उठी। इसने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया जिसका अर्थ यह है कि निम्न जातियों ने उच्च जातियों की जीवन शैली, खान-पान की आदतें, पहनावा, पूजा-पाठ की विधियां-रीतियां अपनाना शुरू कर दिया। ये जातियां आगे चलकर उच्च जाति का दर्जा दिए जाने की मांग करने लगीं। यही नहीं, एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार इसने पाश्चात्यकरण की प्रक्रिया में भी योगदान दिया, जिसके चलते भारतीय भी पश्चिमी वेशभूषा, जीवन शैली और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के तौर-तरीके इत्यादि अपनाने लगे।

1.5.2 सामाजिक गतिशीलता

वर्ण व्यवस्था के स्तरीकरण में परिवर्तन की प्रक्रिया के इस दौर ने एक नई सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को जन्म दिया। सामाजिक गतिशीलता को इसने राज्य की नीतियों से सीधे जोड़ा और इसने सामाजिक आंदोलनों में राजनीतिकरण के तत्वों को शामिल किया, जिससे व्यवस्था पीछे नहीं मुड़ पाई है। यह प्रक्रिया स्वतंत्रता के बाद भी बढ़ती रही है हालांकि उसमें कुछ बदलाव अवश्य आया है। यह आजादी हमें अंग्रेजी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय राजनीतिक आंदोलन के फलस्वरूप प्राप्त हुई जो वैचारिक रूप से भारत में जाति, धर्म या जातीयता के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध थी। इसकी नींव पंथ-निरपेक्षता और समान नागरिक अधिकारों के सिद्धांतों पर रखी गई थी, इसीलिए स्वतंत्रता के बाद भारत ने जो संविधान स्वीकार किया वह सिर्फ कामकाज के उद्देश्य के लिए ही नागरिकों की नागरिक स्थिति को मानता है। यही कारण है कि स्वतंत्रता के तत्काल बाद ग्रामीण और शहरी नागरिक संस्थाओं से जाति को अमान्य करार दे दिया गया। मगर वहीं भारतीय संविधान ने जनकल्याण नीति के मद्देनज़र चुनी जातियों और जनजातियों के लिए जातिगत-स्थिति को मान्यता दी जो सदियों से शोषित रही थीं और अन्य जातियों के साधन-संपन्न वर्गों से स्पर्धा करने की स्थिति में नहीं थीं। इन जातियों और जनजातियों को संविधान की अनुसूची में सरकारी नौकरियों, शिक्षण संस्थानों और निर्वाचित राजनीतिक पदों में क्रमश: सूचीबद्ध किया गया और इन्हें 15.0 और 7.5 प्रतिशत आरक्षण दिया गया।

बॉक्स 1.01

आरक्षण का यह प्रावधान संविधान में किया गया। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों में भी यह कहा गया है कि राज्य "सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों" को भी आरक्षण का लाभ देगा। पिछड़े वर्गों की पहचान करने के लिए पहले 1955 में काका कर्लेकर आयोग और फिर 1977 में मंडल आयोग बनाए गए। कर्लेकर आयोग इस दिशा में कोई निश्चित राय नहीं दे सका लेकिन मंडल आयोग ने पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की जिनकी पहचान आयोग ने उनकी जातियों से की। आयोग ने इन जातियों की सूची भी दी। यहां ध्यान देने की बात यह है कि भारत के कई राज्य पिछड़े वर्गों को केन्द्र सरकार की इस आरक्षण नीति के लागू होने से पहले ही आरक्षण दे रहे थे। इन राज्यों ने भी पिछड़ेपन की पहचान जाति/समूहों से की जिन्हें सामाजिक और शैक्षिक अवसरों से वंचित रखा गया था।

रोजगार, शिक्षा और राजनीतिक पदों में जातियों के लिए आरक्षण की नीति भारत में सामाजिक परिवर्तन की गतिशीलता को दर्शाती है जो खुद राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास की उपज है। इस नीति की उत्पत्ति में सहायक कारक हैं: लोकतांत्रिक रोजगार, कृषि उत्पादकता में वृद्धि जिसका श्रेय कृषक जातियों को जाता है (जिनमें से अधिकतर जातियों को केन्द्र और राज्यों में पिछड़े वर्ग की श्रेणियों में रखा गया है), और इन जातियों में शिक्षा और सरकारी सेवाओं के क्षेत्र में अपनी सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाने की आकांक्षा। पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की नीति को राज्य से केन्द्र की ओर गति विभिन्न चरणों में पिछड़े वर्गों के आंदोलनों के फलस्वरूप मिली। पिछड़े वर्गों के आंदोलनों को इन वर्गों की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में आए सुधार से बल मिला, जो लोकतांत्रिक नीति के तहत राष्ट्र के 50 वर्ष तक आर्थिक और सामाजिक विकास में निवेश का परिणाम था।

1.5.3 क्रम-परंपरा के सिद्धांत

जाति भी सामाजिक स्तरीकरण में क्रम-परंपरा के सिद्धांत को प्रतिबिंबित करती है। फ्रांस के सामाजिक नृविज्ञानी लुई ड्यूमोंट भारतीय सामाजिक संरचना को इसकी अनूठी वर्ण संस्था के मद्देनजर पाश्चात्य सामाजिक संरचना से एकदम विपरीत रखकर देखते हैं। इसका एक कारण यह है कि जाति की यह अनूठी संस्था संरचनात्मक और सभ्यता दोनों दृष्टि से क्रम-परंपरा के सिद्धांत को प्रतिबिंबित करती है जो कि पश्चिमी समाज के समानता के सिद्धांत के एकदम विपरीत है। ड्यूमोंट क्रम-परंपरा को एक सामाजिक व्यवस्था की विशेषता के रूप में परिभाषित करते हैं, जिसमें मानकीय सिद्धांत समाज के मामलों में नैमित्तिक (साधनपरक) या उपयोगितावादी सिद्धांतों को संचालित या निर्धारित करते हैं। वह इसे परिवेष्टित और परिवेष्टनकारी कहते हैं। यानी उनके अनुसार यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा परंपरागत रूप से मान्य मूल्य और विश्वास तर्कसंगत उपयोगितावादी सिद्धांतों को परिवेष्टित करते हैं या उन्हें लेकर चलते हैं। दूसरे शब्दों में क्रम-परंपरा की व्यवस्था में समाज के आदर्श मानकों को आर्थिक, राजनीतिक और अन्य कारक तय नहीं करते। बल्कि इन्हें तय करने वाले कारक इनसे बिल्कुल भिन्न होते हैं। इसलिए ड्यूमोंट के अनुसार वर्ण व्यवस्था में प्रचलित अशुद्धि-शुद्धि की धारणाओं को हम पाश्चात्य जगत् के धर्मनिरपेक्ष मानकों की कसौटी पर नहीं कस सकते क्योंकि ये मानक ऐसी सभ्यता से जुड़े हैं, जिनका ताना-बाना बिल्कुल ही भिन्न है।

ड्यूमोंट की क्रम-परंपरा के रूप में जाति की व्याख्या पर भारत में ही नहीं बल्कि समूचे विश्व में एक बहस छिड़ी। जातियों के स्तरीकरण और उसके स्थायीकरण में आर्थिक और राजनीतिक कारकों की भूमिका की अनदेखी करने के लिए उनकी आलोचना हुई। लेकिन जैसाकि देखने में आ रहा है कि आज जिस प्रकार जाति सफलतापूर्वक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आधुनिकीकरण की मांगों के अनुसार ढल रही हैं, और जिस प्रकार बड़े आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसको ज्यादा से ज्यादा संगठित किया जा रहा है उससे यही प्रतीत होता है कि क्रम-परंपरा के सिद्धांत में इसने अपने अधिकांश पारंपरिक विशेषताओं को खो दिया है।

1.6 भारतीय समाज का ढांचा

भारत के सामाजिक ढांचे में उसकी वर्गीय संरचना और उसकी प्रक्रियाओं का काफी विस्तृत और गहन अध्ययन हुआ है। इस प्रकार के अध्ययन में अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों और नृविज्ञानियों ने योगदान किया है। ऐसे कई अध्ययनों में भारतीय समाज में जाति और वर्ग के बीच घनिष्ठ संबंध को स्थापित करने के प्रयास भी खूब हुए हैं। इस तरह के ज्यादातर अध्ययन अनुभवजन्य प्रेक्षणों पर आधारित हैं और उनका चरित्र क्षेत्रीय है। इसके बावजूद इन अध्ययनों से हमें भारत में वर्गीय संरचना और जाति स्तरीकरण से उसके घनिष्ठ संबंध का पता चलता है।

1.6.1 स्थिति का सार

पारंपरिक रूप से यह देखा गया है कि जाति में एक विशेष लक्षण होता है जिसे 'स्थिति का सार' सिद्धांत कहा गया। आनुष्ठानिक (शुद्धि-अशुद्धि) क्रम-परंपरा में जाति की स्थिति अगर निम्न हो तो आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति तक उस जाति की पहुंच भी उतनी ही निम्न रहती है। ऐसी स्थिति में जाति में एक तरह से वर्ग की विशेषता भी शामिल रहती है मगर उसमें सारी विशेषताएं नहीं होतीं। परिभाषा के अनुसार जाति एक संवृत समूह है, इसकी सदस्यता जन्म से मिलती है, इसलिए जाति-स्थिति प्रदत्त होती है। इसे हम आर्थिक या सामाजिक गतिशीलता के द्वारा अर्जित नहीं कर सकते। दूसरी ओर वर्ग एक खुला या विवृत समूह है जिसकी सदस्यता का आधार अर्जन या उपलब्धि की कसौटी है, जो आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक हो सकती है। जाति एक समुदाय भी है, जिसकी गतिशीलता समूह पर आधारित या सामूहिक होती है। इसीलिए अतीत में संस्कृतिकरण के द्वारा अपनी स्थिति को ऊंचा उठाने के प्रयासों में समूचा जाति-समूह शामिल रहता था। जाति के विपरीत वर्ग में ऐसी कोई सामुदायिकतावादी विशेषता नहीं होती हालांकि यह साझे हितों के आधार पर सामूहिक-सहचारिता विकसित कर सकता है। इस अर्थ में वर्ग एक हित-समूह है जबकि जाति एक समुदाय है। नए सामाजिक और आर्थिक विकास और जातिगत सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के सक्रिय होने (जिसमें आरक्षण नीति भी शामिल है) से जाति समूह हित-समूहों में परिवर्तित हो गए हैं। इस हद तक वर्ग के कुछ विशेष-लक्षण भी ऐसे जातिगत संगठनों में शामिल हो गए हैं। खासकर यह बात हम उन अनेक जातिगत संगठनों के बारे में कह सकते हैं जो अंग्रेजी शासन के समय से ही भारत में विद्यमान हैं और स्वतंत्रता के बाद जिनकी संख्या में खूब बढ़ोतरी ही हुई है।

अभ्यास 2

अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों के साथ 'स्थिति का सार' सिद्धांत पर चर्चा कीजिए। इस चर्चा में आपको जो जो मुख्य बातें पता चलें उन्हें अपनी नोटबुक में लिख लें।

भारतीय समाज में वर्गीय ढांचा ग्रामीण और शहरी समाजों में एक दूसरे से भिन्न पाया जाता है। समाजशास्त्रियों और सामाजिक नृविज्ञानियों ने ग्रामीण समाज के बारे में जो-जो अध्ययन किए हैं, उनमें ग्रामीण वर्गीय संरचना में मुख्यतः तीन वर्ग पाए गए हैं–जमींदार, किसान और मजदूर वर्ग। गांवों में दस्तकार और अहलकार या वृत्तिमूलक जातियां भी छोटी संख्या में एक अलग आर्थिक हित-समूह के रूप में विद्यमान रहती हैं जिसमें वर्ग के कुछ लक्षण पाए जाते हैं। मार्क्सवादी श्रेणियों के अनुसार अध्ययन करने वाली कैथलीन गॉग और कुछ अन्य समाज-विज्ञानियों ने ग्रामीण वर्गीय ढांचे को इन वर्गों में बांटा है: बुर्जुवा वर्ग (बड़े जमींदार), छोटा बुर्जुवा वर्ग (मझोले और छोटे जमींदार तथा व्यापारी और दस्तकार) और ग्रामीण सर्वहारा या श्रमिक वर्ग (जिनके पास कोई जमीन नहीं होती और जो दिहाड़ी मजदूरों के रूप में जीवन-यापन करते हैं)।

1.6.2 मार्क्सवादी विधि और धारणाएं

अर्थशास्त्रियों में भारत के वर्गीय ढांचे के अध्ययन-विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी विधि और धारणाओं के प्रयोग का चलन अधिक रहा है। कालांतर में समाजशास्त्रियों ने भी इन्हीं का प्रयोग आरंभ कर दिया। चूंकि सामाजिक विश्लेषण की मार्क्सवादी विधि वर्गीय ढांचे को उत्पादन विधियों, जैसे आदिम, सामंती और

पूंजीवादी, के अनुसार बांटती है इसलिए भारत में वर्गीय ढांचे पर जो बहस हुई वह अधिकतर ग्रामीण और औद्योगिक अर्थव्यवस्था में प्रचलित उत्पादन विधियों के बारे में हुई बहसों पर आधारित रही है। ग्रामीण संदर्भ में इस पर काफी बहस हुई है कि क्या ग्रामीण व्यवस्था और उसकी सामाजिक संरचना में सामंती, अर्धसामंतवादी पूर्व-पूंजीवाद या पूंजीवादी लक्षण हैं। ये भेद इस बात पर आधारित हैं कि अध्ययनकर्ता सामंतवादी अर्थव्यवस्था को अपने विश्लेषण का प्रस्थान बिंदु मानकर चलता है या नहीं, जिसमें वह कृषि अर्थव्यवस्था में उसके पूंजीवादी लक्षणों का अध्ययन करता है। मोटे तौर पर इन अध्ययनों से पता चलता है कि गांवों का वर्गीय ढांचा, जहां कृषि अर्थव्यवस्था अभी तक चल रही है, वह तेजी से पूंजीवाद की ओर बढ़ रहा है। इसका अर्थ यह है कि वस्तुओं या कृषि उत्पादों के रूप में दी और ली जाने मजदूरी की जगह अब नकद मजदूरी ने ली है, कृषि का काम गुजारे की जगह लाभोन्मुखी हो गया है, उत्पादन में निवेश के लिए बैंक ऋण और सहकारिताओं की भूमिका बढ़ गई है, बाजार से बढ़ते संपर्क के साथ ही अनाज उत्पादन के बजाए अब नकदी फसलों के उत्पादन को अधिक महत्व मिल रहा है। इस प्रकार ग्रामीण कृषि-व्यवस्था में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के ऐसे कई गुण आ गए हैं।

बॉक्स 1.02

खेती-बाड़ी में आए परिवर्तनों के फलस्वरूप पूंजीपति किसानों का एक वर्ग उत्पन्न हुआ है। मगर जहां-कहीं परिवर्तन की हवाएं पूरी तरह से नहीं पहुंच पाई हैं वहां भी पूर्व-पूंजीवादी वर्गीय लक्षण पूंजीवादी क्षमता की ओर बढ़ रहे हैं। मगर भारत में ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन का स्तर इतना असमान और विविध है कि जो राज्य पिछड़े हैं उनमें हमें कृषि अर्थव्यवस्था में सामंती और अर्ध-सामंती (या पूर्व-पूंजीवादी) लक्षण दिखाई देते हैं। इसीलिए भारतीय गांवों में वर्गीय ढांचा आज भी जटिल बना हुआ है जिसकी अनेक विशेषताएं हैं।

शहरी क्षेत्रों में वर्गीय ढांचा प्राय: उद्योगपतियों, बनियों और व्यापारियों, व्यवसायियों या नौकरी-पेशा लोगों, अर्ध-कुशल कामगारों और दिहाड़ी मजदूरों के वर्गों में बंटा रहता है। स्वतंत्रता के बाद से व्यवसायी वर्गों की संख्या में वृद्धि हुई है और आज देश की अर्थव्यवस्था में सेवा-क्षेत्र का अंश सकल घरेलू उत्पाद में लगभग 51 प्रतिशत है। सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान अब करीब 28 प्रतिशत है। जाहिर है,

व्यक्तिगत पहनावे में झलकता जातिगत सार
साभार : बी. किरणमई

नगरीय-औद्योगिक भारत की वर्गीय संरचना नई प्रौद्योगिकी और अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के कारण तेजी से बदल रही है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे समाज के ग्रामीण और नगरीय दोनों क्षेत्रों में मध्यम वर्गों की संरचना में विस्तार आया है। उदाहरण के लिए हरित क्रांति ने एक मजबूत ग्रामीण मध्यम वर्ग का निर्माण किया है। इस हरित क्रांति की अगुआई कृषक जातियों ने ही की (जो पिछड़े वर्ग के आंदोलन की रीढ़ हैं)। इसी प्रकार अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र को जो विस्तार मिला है उससे हमारे शहरों और कस्बों में मध्यवर्गीय लोगों की संख्या में अभूतपूर्व इजाफा हुआ है। नगरों और कस्बों में नगरीय मध्यम वर्ग के लोगों की संख्या अब 35 करोड़ के लगभग है। हमारी अर्थव्यवस्था में वृद्धि होती रही तो ऐसा अनुमान है कि इसकी संख्या बढ़ कर आगामी दो-तीन दशकों में 50 करोड़ यानी देश की आधी जनसंख्या के बराबर हो जाएगी।

1.6.3 सेवा प्रधान अर्थव्यवस्था

भारतीय समाज का वर्गीय ढांचा अपनी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था से अब औद्योगिक और विशेषकर सेवा प्रधान अर्थव्यवस्था की ओर तेजी से बढ़ रहा है। इससे हमारे समाज में जाति और वर्गीय ढांचे के बीच मौजूदा गठजोड़ के लिए बड़े ही महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय परिणाम निकलेंगे। नई अर्थव्यवस्थाओं के बढ़ते आवेग के फलस्वरूप नगरीकरण में भारी तेजी आएगी और विभिन्न प्रदेशों और सामुदायों के बीच पलायन भी तेज होगा। इन सबके फलस्वरूप जाति पर आधारित राजनीतिक लामबंदी की जगह राजनीतिक और सामाजिक शक्ति को सामाजिक ढांचे में मिलने वाले स्थान के नए सिद्धांतों का सूत्रपात होगा। इस स्थिति में जाति-समूहों से अधिक महत्व वर्ग और जातीयता को मिलेगी। सामाजिक-नृविज्ञानियों ने हमारे समाज में जाति संजातीकरण की तेज होती प्रक्रिया को भांप लिया है।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में जाति और वर्ग के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

2) सही और गलत बताइए।

   i) सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण के लिए वेबर ने द्वंद्वात्मक सिद्वांत अपनाया था।

   ii) निम्न जाति स्थिति का मतलब जाति क्रम परंपरा में निम्न स्थान है।

   iii) वर्ग एक हित-समूह है जबकि जाति एक समुदाय।

1.7 अवधारणा और सिद्धांत संबंधी कुछ मुद्दे

सामाजिक स्तरीकरण से जुड़े मुद्दों और सिद्धांतों का झुकाव मूलत: सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक क्रम व्यवस्था के बीच मौजूद संबंध की ओर रहा है। मैक्स वेबर ने समाज की तीनों व्यवस्थाओं में भेद किया। ये हैं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक। उनके अनुसार सामाजिक स्तरीकरण की बनावट समाज के 'क्रम' की प्रकृति के अनुसार बदलता है। 'सामाजिक क्रम' की प्रमुखता 'प्रतिष्ठा' के मानकीय की सिद्धांत में निहित है और इसके संस्थागत संरचनाएं इसी से प्रभावित होती हैं। यह स्थिति समूहों में विद्यमान रहती है।

पुराने यूरोपीय समाज में प्रचलित सामंतवाद की संस्थाएं, अभिजात वर्ग और विभिन्न रियासतों (एस्टेट) का निर्माण इसके उदाहरण थे। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में आनुवंशिक अधिकार और पैतृक संपत्ति

और नाना प्रकार के प्रदत्त विशेष ऐकारों और सत्ताधिकारों का प्रचलन था। इधर भारत में विद्यमान समाज का जातिगत स्तरीकरण इस सिद्धांत को प्रतिबिंबित करता है। सह शुद्धि-अशुद्धि के सिद्धांत, पैतृक व्यवसाय और जातिगत विशेषाधिकारों या भेदभाव के अनुमोदित रूपों में काम करती है। यह सजातीय विवाह सिद्धांत में भी झलकता है। वर्ग के विपरीत जाति सामाजिक समुदायों की रचना भी करती है। 'आर्थिक क्रम' तर्कसंगति के मानकीय सिद्धांत और बाजार स्थिति पर आधारित है। यह हित समूहों के रूप में झलकता है। मैक्स वेबर के अनुसार वर्ग बाजार स्थिति की ही उपज है। यह स्पर्धी होता है, इसमें ऐसी सामाजिक श्रेणियां होती हैं, जो समुदायों की रचना नहीं करतीं। वर्ग स्थिति में सामाजिक गतिशीलता अर्जित प्रवीणताओं और योग्यताओं पर निर्भर करती है जो आपूर्ति और मांग के नियमों से संचालित होती हैं। संस्था के रूप में इसकी अभिव्यक्ति बाजारवाद में वृद्धि में देखी जा सकती है। यह बाजार स्थिति को बढ़ावां देता है। समाज का तीसरा क्रम 'राजनीतिक' है। यह 'सत्ताधिकार' की आकांक्षा और उसकी साधना पर आधारित है। इसकी संस्थागत अभिव्यक्ति हमें राजनीतिक दलों और विभिन्न संगठनों के संगठित तंत्र में मिलती है, जिनका रुझान इसके अर्जन में होता है। समाज की राजनीतिक व्यवस्था और इसकी संस्थागत प्रक्रियाओं में अन्य व्यवस्थाओं यानी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं तक फैलने की प्रवृत्ति होती है।

1.7.1 वेबर का नज़रिया

वेबर की अवधारणा और सिद्धांत संबंधी नजरिया मुख्यत: व्याख्यात्मक और व्यवस्थापरक है। उनका मानना था कि सामाजिक प्रसंग को समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए समाजशास्त्र में सैद्धांतिक विकास 'आदर्श किस्म' की अवधारणाओं के प्रयोग से किया जा सकता है। ये अवधारणाएं वास्तविकता को देखकर मिल अनुभवजन्य आगमन पर आधारित नहीं होती हैं, बल्कि ये 'ऐतिहासिक व्यक्ति' या ऐतिहासिक घटनाओं का एक कालावधि में किया जाने वाला काल्पनिक चित्रण है जिससे समाज़शास्त्री अपनी व्याख्यात्मक समझ से अवधारणाओं की रचना करता है। इसलिए आदर्श किस्म की अवधारणाएं वास्तविक नहीं होतीं हालांकि वे वास्तविकता की एक निश्चित समझ से ही निकलती हैं। ये आदर्श तो होती हैं मगर मानकीय न होकर (वांछनीय या अवांछनीय, अच्छा या बुरा) चिंतनात्मक या मानसिक रचनाएं होती हैं। वेबर का मत है कि समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का व्याख्यात्मक महत्व तो है मगर उनमें सामान्यीकरण की नियम जैसी शक्ति नहीं है। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण के उनके सिद्धांत को इसी रूप में लिया जाना चाहिए। उनका सिद्धांत एक कालावधि में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांतों के प्रकटन की तुलनात्मक समझ पर आधारित है। एक पद्धति और परिवर्तन की प्रक्रियाओं के रूप में सामाजिक स्तरीकरण को समझने में यह सिद्धांत बड़ा ही सहायक रहा है।

1.7.2 द्वंद्वात्मक नज़रिया

कार्ल मार्क्स का 'द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकतावाद' सामाजिक स्तरीकरण का एक और स्थापित सिद्धांत है'। सामाजिक स्तरीकरण को समझने के लिए बुनियादी अवधारणाओं की खोज में वेबर ने जिस प्रकार 'क्रम-व्यवस्था' की बुनियादी धारणा का प्रयोग किया है, उसी प्रकार कार्ल मार्क्स ने सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणात्मक श्रेणियों के वर्गीकरण के लिए 'उत्पादन विधि' और 'उत्पादन संबंधों, का प्रयोग किया है। उनके अनुसार उत्पादन की महत्वपूर्ण विधियां इस प्रकार हैं: आदिम, सामंती और पूंजीवादी। ये भेद श्रम-शक्ति के उपयोग की विधियों या उसकी प्रकृति तथा वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त होने वाली प्रौद्योगिकी के साधनों पर आधारित हैं। उत्पादन की आदिम विधि की विशेषता यह थी कि उसमें सामूहिक श्रम की विधि अपनाई जाती थी जिसमें आदिम औजार इस्तेमाल होते थे। इस तरह की उत्पादन विधि आदिम भोजन-संग्राही और शिकारी समुदायों में प्रचलित थी। जैसा कि हम कह चुके हैं सामाजिक स्तरीकरण की संस्थाओं का अभी इस चरण पर विकास नहीं हुआ होगा। इसके संस्थागत अंगों का विकास सामंतवाद के उदय के साथ हुआ। इस समय तक संपत्ति और उत्पादन के संसाधनों का संचय होने लगा था। इसके फलस्वरूप समाज में स्तरीकरण आरंभ हुआ जिसके शीर्ष पर सामंतवादी भूस्वामी विराजमान था। यह 'भू-स्वामी भूमि और उत्पादन के अन्य तमाम संसाधनों समेत अपनी रियासत या एस्टेट और उस पर आश्रित लोगों पर अधिकार रखता था जो वस्तुत: बहुत व्यापक था। कृषक, दास और व्यापारी और दस्तकार/कारीगर समाज के अन्य स्तर थे जो इस पद्धति के हिस्सा थे। मगर ये सभी

पूरी तरह से उत्पादन के साधनों और श्रमशक्ति पर निर्भर थे जो भूपति के अधिकार में रहते थे। दरअसल, इनमें से अधिकांश सामाजिक स्तर सामंतवादी भूपति की जागीर से जुड़े होते थे। सामंतवाद ने अपने विशिष्ट राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएं विकसित की मगर इनमें से ज्यादातर आनुवंशिक विशेषाधिकारों और पैतृक-प्रभुत्व पर आधारित थीं। सामंत का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण था जिससे उसके और अन्य सामाजिक स्तरों में एक ऐसा संबंध विकसित हुआ जिसका आधार स्थिति अनुबंधन और विशेषाधिकार थे।

बॉक्स 1.03

मार्क्स के अनुसार इस व्यवस्था में अंतर्द्वंद्व और तनाव प्रकट या अप्रकट रूप से मौजूद थे। यह अंतर्द्वंद्वात्मक संबंध उस समय मौजूद 'झूठी चेतना' के कारण प्रकट रूप में नहीं था। उदाहरण के लिए सामंत और किसान के बीच के संबंध को किसान शोषणकारी समझने के बजाए उसे एक हितकारी संरक्षण के रूप में लेता था। एक दृष्टिकोण प्रक्रियाओं के बारे में भी विद्यमान है, जिनके माध्यम से संपत्ति सामाजिक स्तरों में समूहों के स्थान का विभाजन करती है।

1.7.3 पूंजीवाद का उदय

पूंजीवाद के उदय से सामाजिक विकास-क्रम में एक नए दौर की शुरुआत हुई। नूतन प्रौद्योगिकी के विकास और सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से चली ऐतिहासिक परिवर्तन की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया ने सामंतवाद को लुप्तप्राय बना दिया और इसकी जगह पूंजीवाद ने ले ली। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इस समय तक वर्गीय ढांचा पूर्णतः उभर चुका था। वस्तुओं के उत्पादन में कारखाना विधि का विकास, कृषकों और मजदूरों का गांव से शहर की ओर भारी संख्या में पलायन, बाजार के विस्तारित उपयोग से पूंजी का संचय, जिसे परिवहन की नई प्रौद्योगकी ने संभव बनाया और यूरोपीय शक्तियों का औपनिवेशक विस्तार, इन सबने सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था को ही बदल डाला। सामाजिक स्तरीकरण की इस नई योजना में जिन मुख्य नए वर्गों का उदय हुआ वे थे पूंजीवादी उद्यमी और श्रमिक वर्ग। इसके साथ इन दोनों वर्गों के बीच एक नए किस्म का अति प्रतिद्वंद्वात्मक संबंध उपजा। इस प्रकार के प्रतिद्वंद्वात्मक संबंध के मूल में काम के समुचित घंटे, समुचित पारिश्रमिक, रोजगार और काम की बेहतर स्थितियां, इत्यादि मांगें थीं। मार्क्स के अनुसार संघर्ष की ये शक्तियां प्रतिद्वंद्विता को भी अप्रासंगिक बना कर उसकी जगह समाज में एक समाजवादी व्यवस्था स्थापित कर देती हैं। यह समाजवादी व्यवस्था पूंजी के निजी स्वामित्व और लाभ अर्जन के बिना सामूहिक उत्पादन पर आधारित होगी। किसान और श्रमिक वर्गों द्वारा क्रांति लाने के बाद अनेक देशों में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हुई जैसे सोवियत संघ, चीन, वियतनाम इत्यादि। मगर मार्क्स की मान्यता के उलट पूंजीवाद अभी तक अप्रासंगिक नहीं हो पाया है। हकीकत तो यह है कि पूंजीवाद में एक नया लचीलापन और ऊर्जा देखने में आ रही है। जबकि दूसरी ओर कई समाजवादी अर्थव्यवस्थाएं या तो कमजोर पड़ गई हैं या उनकी जगह पूंजीवादी व्यवस्था या संस्थाओं ने ले ली है।

मगर मार्क्सवादी सिद्धांत का सार सामाजिक स्तरों के निर्माण प्रक्रिया या इसके संरचनात्मक गठन में न होकर सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति के इसके बुनियादी तर्क में निहित है। मार्क्स सामाजिक व्यवस्था को ऐतिहासिक भौतिकतावादी परिस्थितियों की उपज मानते हैं। उत्पादन विधियां और उत्पादन के संबंध उन स्थितियों को परिभाषित करते हैं और ये स्थितियां प्रौद्योगिकी में होने वाले नूतन परिवर्तनों को सुलझाने के प्रयासों के कारण निरंतर बदल रही हैं जो कि सार्वभौमिक हैं। इस प्रकार मार्क्स की धारणा के अनुसार सामाजिक व्यवस्था विभिन्न समूहों के बीच परस्पर संबंधों पर आधारित होती है और ये संबंध नैसर्गिक रूप से विरोधी होते हैं जिन्हें सामाजिक व्यवस्था या तंत्र को बदले बिना सुलझाया नहीं जा सकता है। जिस प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को पलटा जा सकता है उसे हम क्रांति कहते हैं जिसमें औद्योगिक मजदूर और किसान जैसे शोषित वर्ग पूंजीवादी वर्गों के खिलाफ वर्ग संघर्ष में साझा हिस्सा लेते हैं। इस सर्वहारा क्रांति के फलस्वरूप जो सामाजिक व्यवस्था यानी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना होती है उसमें सामाजिक-आर्थिक असमानताओं पर आधारित प्रतिद्वंद्विता को जन्म देने वाले सामाजिक-स्तरों के लिए कोई जगह नहीं होती। मगर इसमें वर्ग या सामाजिक स्तरीकरण के बिना कार्य का सामाजिक विभाजन अवश्य होता है। इस प्रकार के सामाजिक स्तरों को 'अविरोधी' कहा जाता है।

1.7.4 डारहेंडॉर्फ और कोजर

मार्क्सवाद के अलावा सामाजिक स्तरीकरण के समाजशास्त्र में अन्य सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य भी हैं जो समाज में मौजूद अंतर्द्वंद्व को एक सार्वभौमिक लक्षण मानते हैं जो उसमें सामाजिक श्रेणियों के रूप में विद्यमान रहता है। राल्फ डारहेंडॉर्फ और लुइस कोजर उन पश्चिमी समाजशास्त्रियों के उदाहरण हैं जो अंतर्द्वंद्व की सार्वभौमिकता को सामाजिक स्तरीकरण के हर स्वरूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन ये समाजशास्त्री इस द्वंद्व को वर्ग संघर्ष और सर्वहारा क्रांति के सिद्धांत से जोड़ने के बजाए सामाजिक तंत्र में विद्यमान संस्थागत विसंगतियों में देखते हैं।

इन समाजशास्त्रियों के अनुसार द्वंद्व हितों में परस्पर वैमनष्य और ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने के प्रयास में समाज के एक स्तर द्वारा दूसरे स्तरों के ऊपर सत्ताधिकार या शक्ति के प्रयोग से उत्पन्न होता है। इसलिए यह द्वंद्व सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था की आंतरिक गतिशीलता को दर्शाता हैं। बल्कि यह द्वंद्व स्तरीकरण के पूर्ण प्रतिस्थापन की ओर अभिगमन जैसा कि मार्क्स ने कहा था क्रांतिकारी विधियों से सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन का द्योतक नहीं है। सामाजिक स्तरीकरण के ऐसे सिद्धांत, जिन्हें 'द्वंद्व सिद्धांत' की संज्ञा दी जाती है, ऐतिहासिक भौतिकतावाद के मार्क्सवादी नजरिए को स्वीकार नहीं करते जिसमें क्रांतिकारी आंदोलनों के माध्यम से सामाजिक विकास-क्रम के नियत चरणों का प्रतिपादन किया गया है। इस द्वंद्व सिद्धांत में सामाजिक क्रम-व्यवस्था की जो धारणा दी गई है वह इसकी द्वंद्वात्मक भौतिकतावादी व्याख्या के बजाए इसके कार्यपरक दृष्टिकोण के ज्यादा नजदीक है।

1.7.5 प्रकार्यवादी सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवादी सिद्धांत सामाजिक व्यवस्था के प्रति मार्क्सवादी नजरिए से एकदम अलग है। सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में यह सिद्धांत विशेष रूप से अमरीकी समाजशास्त्रियों में बड़ा प्रचलित है। कार्यपरक सिद्धांत यह मानकर नहीं चलता कि सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक स्तरों की असमनाताओं पर आधारित आत्म-उन्मूलक अंतर्विरोध या द्वंद्व नैसर्गिक रूप से विद्यमान रहते हैं। बल्कि यह सिद्धांत मानता है कि सामाजिक व्यवस्था में आत्म रख-रखाव और आत्म-नियमन की नैसर्गिक क्षमता विद्यमान होती है। यह सिद्धांत यह मानकर चलता है कि समाज और सामाजिक स्तरीकरण समेत इसकी तमाम संस्थाओं की रचना सामाजिक संबंधों के परस्पर-निर्भर समुच्चयों से होती है, जिनमें द्वंद्वों को बांधे रखने और उन्हें सुलझाने की क्षमता होती है। यहां यह सिद्धांत द्वंद्वों को अस्वीकार नहीं करता। यह सिद्धांत सामाजिक व्यवस्था और जीव में समरूपता मानता है जिसके अनुसार दोनों में आत्म-नियमन और स्वदोषहरण की आंतरिक क्रियाविधि पाई जाती है। कार्यपरक दृष्टिकोण से सामाजिक स्तरीकरण एक गतिशील व्यवस्था है जिसकी विशिष्टता सामाजिक गतिशीलता और सहमति निर्माण के नियमों का निरंतर पुनर्संयोजन है। यह स्पर्धा और द्वंद्व की भूमिका को स्वीकार तो करता है मगर इसके साथ संस्थागत-कार्यप्रणाली के अस्तित्व में रहने की बात भी करता है। जैसे: समाजीकरण, शिक्षा और लोकतांत्रिक सहभागिता के द्वारा सशक्तीकरण की प्रक्रियाएं। इन प्रक्रियाओं के जरिए सामाजिक गतिशीलता की आकांक्षाएं पूरी की जा सकती हैं और समाज के विभिन्न स्तरों में व्याप्त अवसरों की असमानताओं से उत्पन्न अंतर्विरोधों को एक हद तक सार्थक सामाजिक सहमति से सुलझाया जा सकता है।

सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में भारतीय समाजशास्त्रियों ने ऊपर बताए गए सभी सैद्धांतिक नजरियों का प्रयोग किया है। मगर भारत में वर्गीय ढांचे और कृषक वर्ग पर जो भी अध्ययन हुए हैं उनमें से अधिकांश में मार्क्सवाद के ऐतिहासिक भौतिकवाद सिद्धांत को प्रयुक्त कर इस सिद्धांत को भारतीय ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप बनाने का प्रयास हुआ है। सामाजिक स्तरीकरण के ग्रामीण और शहरी पद्धतियों के कई अध्ययनों में वेबर के सिद्धांत का प्रभाव रहा है। सामाजिक गतिशीलता, शिक्षा, लोकतांत्रिक सहभागिता और अनुसूचित जातियों/जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के पक्ष में सकारात्मक भेदभाव (आरक्षण) की नीतियां, उद्योग और उद्यमशीलता का विकास इत्यादि इन सब शक्तियों से सामाजिक स्तरीकरण में आए बदलावों को आंकने के लिए किए गए अनेक अध्ययनों में जाति, वर्ग और सत्ताधिकार को अवधारणात्मक प्रारूपों को लिया गया है। इन अध्ययनों में विशेष समाजशास्त्रीय रुचि की

बात यह मिलती है कि वर्ण-व्यवस्था के अंदर सामाजिक स्तरों की आर्थिक स्थिति, आनुष्ठानिक स्थिति और सत्ताधिकार की स्थिति या हस्ती जैसे कारकों के बीच जो पारंपरिक सर्वांगसमता पाई जाती थी वह सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाओं और सशक्तीकरण की नीति के कारण टूट गई है। दूसरे शब्दों में ऊंची जातियों को आज उच्च आर्थिक दर्जा या सत्ताधिकार का सिर्फ इसलिए नहीं मिल जाता कि परंपरा के अनुसार वर्ण-व्यवस्था में उन्हें उच्च आनुष्ठानिक दर्जा मिला हुआ है। इस संदर्भ में समाजशास्त्रियों ने आर्थिक दर्जे को परिभाषित करने के लिए वर्ग, राजनीतिक और जातिगत दर्जे को परिभाषित करने के लिए धार्मिक-अनुष्ठान का प्रयोग किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि स्वतंत्रता के बाद पिछले कई दशकों से चली आ रही सामाजिक विकास नीतियों के फलस्वरूप उपजी सामाजिक गतिशीलता ने जाति के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण में 'स्थिति सार' सिद्धांत को तोड़ा है। वर्ग का उदय और जाति व धर्म की जातीय लामबंदी ऐसी नई प्रक्रियाएं हैं जो सामाजिक स्तरीकरण के पारंपरिक स्वरूपों और संस्थाओं को चुनौती दे रही हैं।

1.8 सारांश

ऊपर दिए गए विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज के अंदर सामाजिक स्तरीकरण प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों, कृषि के आधुनिकीकरण, औद्योगिक और उद्यमशीलता में विकास, समाज के कमजोर वर्गों के सशक्तीकरण और जन संचार माध्यमों में आई क्रांति के फलस्वरूप परिवर्तनों से गुजर रहा है। अनूसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के लाभ के लिए लागू सकारात्मक भेदभाव की नीति ने भी समाज के इन कमजोर वर्गों में सामाजिक गतिशीलता को भारी बढ़ावा दिया है। अध्ययनों से पता चलता है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए संविधान में आरक्षण का जो प्रावधान किया गया उस नीति का इन वर्गों को लाभ हुआ है और इनमें से एक बड़ा हिस्सा मध्यमवर्ग के रूप में उभरा है। लेकिन इस नीति ने जिस सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है वह अभी तक इन लोगों में भारी निरक्षरता, कुपोषण और स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के चलते काफी सीमित है। सकारात्मक भेदभाव के जरिए सामाजिक गतिशीलता काफी हद तक संबंधित समूहों के शिक्षा के स्तर पर निर्भर करता है। दूसरी वजह से आरक्षण नीति सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया में एक निर्णायक घटक का काम करने के बजाए सिर्फ पूरक का काम कर रही है। लिहाजा, समाज के इन वर्गों में निरक्षरता को दूर करने की प्रक्रिया को तेज करने की दिशा में कारगर कदम उठाने की जरूरत है।

सामाजिक गतिशीलता के मामले में अन्य पिछड़ी जातियां कमोबेश बेहतर स्थिति में हैं। ये जातियां साधारणतया कृषक हैं और इनके पास भू-संसाधन हैं जो अधिकांश अनुसूचित जातियों और जनजातियों के पास नहीं हैं। हरित क्रांति में इन पिछड़ी जातियों का बड़ा हाथ रहा है और इससे इन्हें लाभ भी हुआ है। देश के अधिकांश भागों में अब ये ग्रामीण मध्यम वर्ग रूप में उभरी हैं और अर्थव्यवस्था (कृषि) के क्षेत्र और राजनीति सत्ताधिकार में इन्हें बेहतर दर्जा मिल गया है। आरक्षण के जरिए प्रौद्योगिकी, व्यवसायिक और प्रबंधन पदों और केन्द्रीय लोक सेवाओं में प्रवेश पाने से इनका सामाजिक दर्जा बढ़ा है, जिनसे अभी तक इन्हें अपेक्षतया वंचित रखा गया था। इससे भारत में पिछड़े वर्ग के आंदोलन और इस श्रेणी के साथ-साथ अनुसूचित जातियों/जनजातियों या दलितों में भी संजातीयकरण को नया आवेग मिला है।

सामाजिक, ढांचे और स्तरीकरण की प्रणाली में बदलाव की एक और प्रक्रिया का पता भारत में व्यवयायिक और उद्यमी वर्गों में वृद्धि के संकेतकों और अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र में उठते चढ़ाव को देखकर चलता है। जैसा कि हमने पीछे कहा है भारत में मध्यम वर्ग की संख्या मोटे तौर पर देश की जनसंख्या का एक तिहाई 35 करोड़ होने का अनुमान है। यह बहुत बड़ी संख्या है जिसका संबंध औद्योगिक-शहरी और सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्रों से हैं। इस क्षेत्र में बदलाव की प्रक्रिया अभी शुरू ही हुई है और आर्थिक उदारीकरण की नीति इस प्रक्रिया को एक नई गति दे सकती है। मगर गुणात्मक दृष्टि से ग्रामीण और शहरी भारत का वर्गीय ढांचा परिवर्तन की इन शक्तियों के प्रत्युत्तर में निरंतर उनके अनुरूप ढलने और उनमें जा मिलने में जुटा हुआ है जिनका सामना उसे पाश्चात्य संस्कृति और सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों के प्रभाव में बढ़ते पैमाने पर करना पड़ रहा है।

1.9 शब्दावली

जनसांख्यिकी : इसका संबंध जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं से है, जैसे, स्त्री-पुरुष, अनुपात, किसी एक लक्षण का वितरण, सकल संख्या इत्यादि।

द्वंद्वात्मक : किसी एक विषय पर दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को लेकर उन्हें सार ग्रहण के एक उच्च तल पर सुलझाना।

क्रम-परंपरा : जातियों या समूहों का शीर्ष से नीचे की ओर श्रेणी क्रम।

वर्ण या जाति : एक प्रदत्त समूह जो समुदाय आधारित होता है

वर्ग : एक उपलब्धि प्रधान हित समूह

सत्ताधिकार : एक समूह या समुदाय में किसी व्यक्ति या समूह द्वारा निर्णयों को अपनी इच्छानुसार प्रभावित करने की क्षमता।

स्थिति या दर्जा : प्रतिष्ठा या सम्मान के पैमाने पर समूहों की सापेक्षिक स्थिति के अनुसार उनका समाज में श्रेणीकरण।

1.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

योगेन्द्र सिंह, *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन ऐंड सोशल चेंज,* नई दिल्ली, मनोहर, 1997

के.एल. शर्मा, *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन इन इंडिया : थीम्स एंड इश्यूज,* नई दिल्ली, सेज, 1997

1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पारंपरिक भारतीय समाज मुख्यत: जाति के आधार पर गठित था। जाति सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं में मुख्य सिद्धांत के रूप में काम करती थी जैसे अर्थव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और संस्कृति। इस योजना में वर्ण वर्गीकरण के संदर्भ का ढांचा है जबकि जाति क्रम में श्रेणीबद्ध विशिष्ट जाति समूह है।

2) iii)
   v)

बोध प्रश्न 2

1) जाति 'स्थिति सार' को दर्शाती है। अगर यह आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा में निम्न दर्जे पर हो तो इसका आर्थिक-राजनीतिक और सामाजिक दर्जा भी प्राय: निम्न रहेगा। परिभाषा के अनुसार जाति एक संवश्त समूह है, जो प्रदत्त होती है। दूसरी ओर वर्ग एक विवश्त समूह है जिसकी सदस्यता उपलब्धि की कसौटी पर आधारित रहती है। इस प्रकार जाति समुदाय आधारित होती है तो वर्ग स्थिति समूह का परिचायक है।

2) i) गलत
   ii) सही